

शिक्षा के निजीकरण का प्रभाव

□ जगत भारद्वाज

शिक्षा में निजी क्षेत्र की सक्रियता आजादी के समय हमें विरासत में मिली । उस समय ऐसे निजी प्रयासों का शिक्षा क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान था जिन्होंने शिक्षा का एक देशज आदर्श स्वरूप तैयार करने का उपक्रम किया । कालान्तर में शिक्षा के निजी क्षेत्र में व्यापारीकरण और मुनाफा अर्जित करने की बाजारु प्रवृत्तियां प्रमुख होती चली गयीं । आज जितना भारतीय समाज विषम है, वैसी ही विषमता शिक्षा के निजी क्षेत्र में दिखायी पड़ती है । शिक्षा प्रसार के प्रति सरकार की अक्षमता और सरकारी शिक्षातंत्र की कमजोरी ने शैक्षिक निजीकरण को बल प्रदान किया । बेशक, आज भी कुछ स्वैच्छिक संस्थानों के शैक्षिक नवाचार और प्रयास महत्वपूर्ण हैं । किन्तु शिक्षा के निजीकरण ने समूची प्रणाली को अपनी निहित स्वार्थी गिरफ्त में ले लिया है । इस स्थिति पर प्रस्तुत आलेख में विस्तार से प्रकाश डाला गया है ।

ब्रिटिश साम्राज्य के दौर ने भारतीय जीवन में उथल पुथल मचा दी क्योंकि यह साम्राज्य भारत में केवल शासन करने ही नहीं आया था अपितु एक सभ्यता और संस्कृति भी साथ लाया था । ब्रिटिश नस्ल की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने तथा औपनिवेशिक शासन को बरकरार रखने के लिए अंग्रेजों ने कानून और राज्य के साथ साथ शिक्षा और संस्कृति का भी बखूबी इस्तेमाल किया । मैकॉले द्वारा स्थापित शिक्षा पद्धति भारतीय सभ्यता और संस्कृति को विखंडित करने का प्रमुख औजार सिद्ध हुई । यही कारण है कि लॉर्ड मैकॉले की अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के साथ ही शिक्षा जैसे सामाजिक कार्य में अहंकारजन्य श्रेष्ठता और विभाजित मानसिकता का प्रवेश होने लगा और स्कूल परम्परा ने इसे और बढ़ावा दिया । संभ्रान्त और शासक वर्ग के लिए विशिष्ट शिक्षा उपलब्ध करने के उद्देश्य से पब्लिक स्कूल खोले गये ताकि वहां के शिक्षार्थी अपनी जमीन, संस्कृति और समाज से कट जाएं और आम व्यक्ति के प्रति घृणा या हीनता की भावना उत्पन्न हो जाए । साथ ही शिक्षा को इतना खर्चीला बना दिया गया कि वह समाज के एक वर्ग-विशेष तक ही सीमित रहे जिससे वह वर्ग, अन्य वर्गों का खुला शोषण कर सके ।

फिर भी अनेक डी.ए.वी., मिशनरी तथा अन्य धार्मिक, सामाजिक, जातीय, स्वैच्छिक संस्थाओं ने शिक्षा का प्रसार, सेवा और समाज के विकास के लिए किया- इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता । हालांकि इन स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालय, अंग्रेजी शिक्षा पद्धति पर ही कमोबेश आधारित थे परन्तु इनमें से अधिकतर अपनी जमीन, सभ्यता, संस्कृति और समाज से बिल्कुल कटे हुए नहीं थे ।

देश के स्वाधीन होने के समय सामान्य जन के मन में यह भाव था कि अब उनकी मूलभूत आवश्यकताओं रोटी, कपड़ा और मकान के साथ-साथ शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था होगी । तदनुसार हमारे संविधान निर्माताओं ने यह अपेक्षा की कि हमारी लोकतंत्रात्मक, संघीय सरकार साक्षर भारत के निर्माण के लिए सतत प्रयत्नशील रहेगी । संविधान के अनुच्छेद 45 एवं अनुच्छेद 39 के अनुसार इस संविधान के लागू होने के 10 वर्ष की अवधि में, 14 वर्ष तक की आयु वर्ग के सभी बालक-बालिकाओं के लिए राज्य अनिवार्य तथा निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करेगा । संविधान के चौथे खण्ड-राज्य के नीति-निर्देशक तत्व का यह हिस्सा हमारी भावी सरकारों के लिए एक निर्देश था । यदि इन निर्देशों का सफल क्रियान्वयन होता तो संपूर्ण भारत कभी का साक्षर हो गया होता ।

यह बात भी सही है कि स्वाधीनता के विगत 50 वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में संख्यात्मक विकास काफी हुआ है । राज्य सरकारों के बजट का एक हिस्सा शिक्षा में निवेशित किया जा रहा है । बड़ी संख्या में विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय खोले गये हैं । जन-सहभागिता बढ़ी है, साक्षरता का प्रतिशत भी बढ़ा है । शिक्षकों के रूप में लाखों लोगों को रोजगार मिला है । हमारे इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक, तकनीशियन, अर्थशास्त्री आज दुनियां में किसी से पीछे नहीं हैं । फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि समाज में वर्ग-विभाजन तीव्र गति से बढ़ा है । शोषण, लूट, उत्पीड़न, भ्रष्टाचार और अपराधीकरण भी उसी गति से बढ़ा है । चिन्ता की बात यह है कि यह सब ऊपर की तरफ से हो रहा है और भ्रष्टाचार के भूत को पुष्ट करने में शिक्षित वर्ग की भी भूमिका बढ़ी-चढ़ी है ।

विगत लगभग तीन दशकों से सेवा तथा निः स्वार्थ त्याग की मूल भावना को छोड़कर शिक्षा का व्यापारीकरण इस तीव्र गति से हुआ है कि आज गली-गली, गांव-गांव और यहां तक कि ढाणियों में भी निजी व्यापारिक शिक्षण संस्थाएं कुकुरमुत्ते की तरह पनप रही हैं और निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। शिक्षा के निजीकरण से किसी को कोई शिकवा-शिकायत नहीं है पर शिक्षा की दुकानदारी हमारी भावी पीढ़ी, समाज व देश के लिए कितनी घातक व अधोगामी सिद्ध हो रही है, यह सर्वविदित है। यदि समय रहते स्थिति पर नियंत्रण न हुआ तो निकट भविष्य में स्थिति निश्चित ही और भी भयानक हो जायेगी।

इन निजी शिक्षण संस्थाओं ने प्रचार-प्रसार व अभिजात्य वर्ग के प्रभाव से सामान्य जन में एक ऐसा तंत्र व भ्रमजाल का तानाबाना बुन दिया है कि लोग इन स्कूलों में अपने बच्चों को प्रवेश दिलाना अपना स्टेटस-सिम्बल मानने लगे हैं। क्या ये नव-धनाढ्य अपने बच्चों को इन तथाकथित रेप्यूटेड स्कूलों में पढ़ाने में झूठा गर्व महसूस नहीं करते? समाज को, अभिजात्य वर्ग और सामान्य वर्ग के रूप में बांटकर वर्गभेद को बढ़ावा देने की यह एक कुचाल है।

प्रायः छोटे-छोटे और कोठरियों में चलने वाले मूलभूत सुविधाहीन निजी विद्यालय भी आज अपने आपको पब्लिक स्कूल लिखने लगे हैं। ब्रिटिश शासन काल में इंग्लैण्ड के पब्लिक स्कूल सिस्टम की तर्ज पर हमारे देश में भी दून स्कूल, दिल्ली का माडर्न स्कूल, अजमेर का सोफिया स्कूल, मेयो कॉलेज, कान्वेन्ट स्कूल आदि कुछ विद्यालय खोले गये थे जो मूलतः अंग्रेजी शासन की मशीनरी चलाए रखने वाले शासक वर्ग, देशी राजा महाराजा व धनाढ्य वर्ग के सामूहिक हितों का पोषण करने के लिए थे, परन्तु ये नए तथाकथित पब्लिक स्कूल शिक्षा-स्तर, सुविधा, अनुशासन, 'डेकोरम' आदि के क्षेत्र में उनके पासंग में भी नहीं ठहरते। ये तो भोली-भाली जनता के साथ सरासर धोखाधड़ी है, क्योंकि इन्हें पब्लिक स्कूल ऑर्गनाइजेशन से भी मान्यता प्राप्त नहीं है और न ही ये पब्लिक स्कूल के मानदंडों के अनुरूप ही हैं।

वैसे पब्लिक स्कूल और इंगलिश मीडियम स्कूल, विशिष्ट विद्यालयों की श्रेणी में आते हैं जिन्हें जिला स्तरीय अधिकारी मान्यता देने में सक्षम नहीं है। इनको मान्यता निदेशालय स्तर पर और इंडियन पब्लिक स्कूल ऑर्गनाइजेशन ही प्रदान कर सकते हैं। अधिकांश ऐसे नामित विद्यालय बिना वैध मान्यता के केवल भ्रांति उत्पन्न कर जनता का खुला शोषण कर रहे हैं। ये विद्यालय भरपूर तरीके से प्रचारित व प्रसारित करते हैं कि उनकी संस्था में एन.सी.ई.आर.टी. का पाठ्यक्रम लागू है। लेकिन यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि अधिकांश विद्यालयों में तो एन.सी.आर.

टी. का पाठ्यक्रम ही उपलब्ध नहीं है। पाठ्य पुस्तकों पर "बेस्ड ऑन एन.सी.ई.आर. टी." का लेबल दिखा कर ये शिक्षा की दुकानें भोली-भाली जनता को ठग रही हैं। साथ ही अपने विद्यालयों के क्रिश्चियन नाम रखकर ये निजी संस्थाएं ऐसा दर्शाने का प्रयास करती हैं मानो ये मिशनरी या कॉन्वेन्ट स्कूल हों।

अलग-अलग नामों के उपयोग से जनता को भ्रमित करने वाली ये संस्थाएं अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा का लुभावना वायदा कर भवन-निर्माण, पाठ्य-पुस्तकें, स्कूल ड्रेस, डायरी, बिल्ले, टाई, जूते मोजे आदि के नाम से मनमाना पैसा लूटती हैं। इन स्कूलों में कम योग्यता वाले तथा काफी संख्या में अप्रशिक्षित शिक्षक भर्ती किए जाते हैं। अधिकांश शिक्षक तो स्वयं चन्द वाक्य भी अंग्रेजी में नहीं बोल सकते। इस प्रकार अंग्रेजी माध्यम का ढोंग रचकर जनता की खून पसीने की कमाई को ठगा जा रहा है। निजी विद्यालयों में नर्सरी, किंडरगार्टन के रूप में पूर्व प्राथमिक कक्षाओं को पढ़ाने वाले कितने शिक्षक इन विधाओं में प्रशिक्षित हैं?

यूं तो गैर सरकारी विद्यालय व महाविद्यालय खोलने का सिलसिला 19 वीं सदी से ही प्रारंभ हो चुका था, परन्तु ये शिक्षा संस्थान वास्तविक मायनों में देश की सामाजिक और सांस्कृतिक भाव-भूमि से जुड़े हुए थे। इस शिक्षा आन्दोलन को जन्म देने वालों में आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन आदि अग्रणी थे। कालान्तर में पंडित मदनमोहन मालवीय, सर सैयद अहमद खां तथा रवीन्द्र नाथ टैगोर ने अपने-अपने शिक्षा संबंधी विचारों को साकार रूप देने के लिए बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुसलिम यूनिवर्सिटी तथा शांति-निकेतन व विश्व-भारती जैसे प्रतिष्ठित संस्थानों को स्थापित किया। फिर अपने समर्पित प्रयासों से इस शृंखला को आगे बढ़ाते हुए अनेक स्कूल, कॉलेजों की स्थापना की। देशी रियासतों के प्रदेश राजपूताना में भी वनस्थली-विद्यापीठ, बिड़ला इंजीनियरिंग संस्थान, विद्या-भवन, गांधी विद्या मंदिर, गांधी विद्यापीठ जैसी अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई जिन्होंने महिला शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, ग्रामीण शिक्षा जैसे क्षेत्रों में अग्रणी कार्य किया।

लगभग तीस वर्ष पूर्व तक निष्ठा, सेवा भावना, समर्पण तथा शालीनता से कार्य करने वाली निजी शिक्षण संस्थाओं में धीरे-धीरे स्वार्थ, सत्ता, महत्वाकांक्षा, शोषण आदि का घुन लगने लगा जिससे सामाजिक, सांस्कृतिक भावभूमि भरभरा कर ढह गई। आज कुछेक को छोड़ कर ये निजी शिक्षण संस्थाएं शोषण का केन्द्र बन गई हैं।

आम तौर पर यह दुहाई दी जाती है कि ये निजी संस्थाएं बाजार की मांग और आपूर्ति के सिद्धांत पर चल रही हैं। यदि यहां बेहतर शिक्षा न दी जाती तो अभिभावक अपने बच्चों को इन

संस्थाओं में क्यों पढ़ाते ? परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि शिक्षा के प्रति सरकार की उदासीनता व दुलमुल नीति, सरकारी विद्यालयों की विपन्न स्थिति, दकियानूसी शिक्षक प्रशिक्षण, अमनोवैज्ञानिक व अरुचिकर पाठ्यक्रम तथा अकर्मण्य शिक्षाकर्मी, शिक्षा में राजनीति की दखलंदाजी, मूकदर्शी और किंकर्तव्यमूढ़ शिक्षा प्रशासन ने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों रूप से इन निजी विद्यालयों के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग प्रदान किया है। सरकारी विद्यालयों की दुर्दशा से खिन्न, अपने बच्चों के भविष्य के प्रति आशंकित अभिजात्य प्रदर्शन का मोह, अंग्रेजी माध्यम व पब्लिक स्कूल की सीढ़ी चढ़ाकर बच्चों को उच्च सरकारी पद दिलाने की ललक ने अभिभावकों को इन विद्यालयों की ओर आकर्षित किया है। अभिभावक अपनी सीमित आय में से अन्य खर्चों में कटौती कर इन तथा-कथित पब्लिक स्कूलों में मोटी फीस देता है, उनके नाज-नखरे सहता है, तकलीफ उठाता है और यह उम्मीद भी पाले रखता है कि बड़े होकर उनकी संतान भी कुछ योग्य बन जाएगी। यह बात दीगर है कि बेचारे मम्मी-डैडी को उनके साथ बैठकर घंटों होम-वर्क कराना पड़ता है।

कुछ ऐसी भी ऊंची और प्रतिष्ठित दुकाने हैं जहां फीस की दर सैकड़ों में न होकर हजारों में है। शिक्षा का स्तर अलबत्ता अच्छा है, परन्तु उनमें संभ्रान्तता का पुट है-वर्ग भेद के बीज हैं। ऐसे स्कूल अनेक कमियों और भरपूर शोषण के साथ अपनी शान-शौकत कायम रखने और प्रदर्शित करने का हर संभव प्रयत्न करते हैं। ऐसे स्कूलों में अपने बच्चों को भेजने वाला वह साधन-सम्पन्न और सत्ता में भागीदार वर्ग है जो आज भी समाज के शीर्ष पर है और अपनी भावी पीढ़ी को भी शीर्ष पर बनाए रखना चाहता है। इस प्रकार के स्कूल नाम को भले ही 'पब्लिक' से बिल्कुल कटे रहते हैं और कुछ थोड़े से लोगों का ही हित साधन करते हैं। अधिकांश लोगों में, जनता के एक बहुत बड़े वर्ग में या कहिए पब्लिक में ये स्कूल कुंठा और मानसिक विकृति को जन्म दे रहे हैं। ऐसी शिक्षण संस्थाओं में विदेशी भाषा अंग्रेजी के शिक्षण को महत्व दिया जाता है तथा गणवेश में भी यूरोपीय परिधानों को प्राथमिकता दी जाती है। भाषा, गणवेश, यूरोपीय शिष्टाचार व रहन-सहन आदि के द्वारा ये संस्थान अपने परिसर में अभिजात्य वातावरण बनाने की कोशिश करते हैं। इन संस्थाओं में अंग्रेजी का उपयोग केवल अभिव्यक्ति के माध्यम तक ही सीमित न होकर एक ऐसी आयातित

संस्कृति का पोषक बन रहा है जिसका हमारी मिट्टी से दूर का भी रिश्ता नहीं है। महात्मा गांधी ने कहा था, "मैं चाहता हूँ कि अंग्रेजी भले ही यहां रह जाए परन्तु अंग्रेजियत चली जाए।" आज ठीक इस कथन के विपरीत अंग्रेजी के साथ-साथ अंग्रेजियत का भी पोषण ये संस्थाएं कर रही हैं।

शिक्षा के निजी संस्थान कुछेक अपवादों को छोड़ कर निजी आर्थिक लाभ के लिए ही संचालित हैं। शिक्षा का निजीकरण बहुत कुछ शिक्षा का व्यापारीकरण और मुनाफाकरण हो गया है। देश में इंजीनियरिंग, मेडिकल, शिक्षक प्रशिक्षण, फार्मेसी, शारीरिक-शिक्षक प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों व पत्राचार पाठ्यक्रमों का बड़ी मात्रा में व्यापारीकरण हो गया है। इन पाठ्यक्रमों में प्रवेश, मोटा डोनेशन व सुविधा शुल्क चुका कर सुलभ है। इन संस्थाओं में राजनेताओं तथा उच्च प्रशासनिक अधिकारियों का सीधा नियंत्रण एवं हस्तक्षेप है। धनबल के आधार पर अयोग्य लोग डिग्री, डिप्लोमा प्राप्त कर रहे हैं एवं प्रतिभाएं कुण्ठित हो रही हैं। यह तो शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण को प्रोत्साहित करना नहीं अपितु शिक्षा को बन्धक बनाकर शोषण की खुले आम छूट देना ही हुआ जो देश को एक दिन बर्बादी के कगार पर ले जाएगा।

लगभग तीस वर्ष पूर्व तक निष्ठा, सेवा भावना, समर्पण तथा शालीनता से कार्य करने वाली निजी शिक्षण संस्थाओं में धीरे-धीरे स्वार्थ, सत्ता, महत्वाकांक्षा, शोषण आदि का घुन लगने लगा जिससे सामाजिक, सांस्कृतिक भावभूमि भरभरा कर ढह गई। आज कुछेक को छोड़ कर ये निजी शिक्षण संस्थाएं शोषण का केन्द्र बन गई हैं।

ये निजी शिक्षण संस्थाएं आज शोषण का पर्याय बन गई हैं। इनमें मुख्यतः शिक्षार्थी, शिक्षक व समाज शोषण के शिकार बन रहे हैं। बालक का सुकोमल मन घर के वातावरण में रमता है। वह विद्यालय में भी घर का वातावरण खोजता है परन्तु वहां औपचारिकताओं, विदेशी भाषा के तौर-तरीके और कृत्रिम वातावरण के जंजाल में वह भटकता है। तीन-चार वर्ष के बालक-बालिकाओं को ही नर्सरी, एल. के. जी., यू. के. जी. आदि पूर्व - प्राथमिक कक्षाओं में प्रवेश दे दिया जाता है और उस पर भारी-भरकम बस्ते का बोझ लाद दिया जाता है। अनावश्यक विषय वस्तु तथा अपरिचित परिवेश की नीरस पाठ्यवस्तु उसके गले जबरन मंढ दी जाती है। उसका बचपन छीन कर उस का शोषण किया जाता है। यहां तक कि 'होमवर्क' से उसके घर का सुखद वातावरण भी होम कर दिया जाता है। बचपन में ही पढ़ाई की चिन्ता, शिक्षक व मम्मी-पापा की डांट-फटकार उसे बूढ़ा बना देती है।

निजी शिक्षण संस्थाओं में शिक्षक व अन्य कर्मचारी बंधुआ

मजदूर की तरह काम कर जीवन जीने को अभिशप्त हैं। अधिकतर संस्थाओं में नियुक्ति पत्र ही नहीं दिया जाता है और कहीं दिया जाता है तो पूर्व में ही खाली कागज पर शिक्षक से हस्ताक्षर कराकर उसका त्याग पत्र तैयार कर लिया जाता है। अनेक शिक्षण संस्थाओं में मात्र 500-600 रुपये महावारी पर शिक्षक कार्य करने को मजबूर है। संस्थाओं के मालिक अपनी सुविधानुसार शिक्षकों को नियुक्त व विमुक्त कर देते हैं। इस प्रकार उनका आर्थिक शोषण तो होता ही है और कभी भी नौकरी से बेदखल करने की तलवार भी उनके सिर पर लटकती रहती है। इन संस्थाओं पर शिक्षा विभाग का नियंत्रण मात्र कागजी होता है। शिक्षकों को गैर शैक्षणिक कार्य करने को भी बाध्य किया जाता है और कार्य की कोई समय-सीमा भी नहीं होती। सरकार से 90 प्रतिशत तक अनुदान प्राप्त करने वाली संस्थाएं भी कार्यरत शिक्षक को पूरे वेतन का चैक थमाने से पूर्व उनसे 60 से 70 फीसदी तक राशि नकद वसूल करते हुए देखी जा सकती हैं।

अभिभावकों को इन विद्यालयों में अपने बच्चों को प्रवेश दिलाने के लिए भारी डोनेशन, विकास शुल्क, शिक्षण शुल्क आदि चुकाना पड़ता है। अनेक संस्थाएं भारी डोनेशन शुल्क लेकर भी अपना निजी भवन जानबूझ कर नहीं बनाती हैं और जनता का धन हड़प रही हैं, अर्थात् जिन्होंने अपने भवन बना भी लिए हैं उन्हें किराये का ही दर्शाती हैं ताकि सरकार द्वारा विद्यालय का अधिग्रहण करने पर उनका भवन सुरक्षित रहे तथा किराये के नाम पर राशि भी गोलमाल होती रहे। प्रवेश के लिए माता-पिता का साक्षात्कार लिया जाता है सो अलग। इस प्रकार ये निजी विद्यालय आर्थिक रूप से समाज का घोर शोषण करते हैं और समाज को वर्गों में विभाजित करने की अहम भूमिका निभाते हैं।

यह बात भी नहीं है कि सरकार को इन निजी शिक्षण संस्थाओं द्वारा की जाने वाली लूट-खसोट की जानकारी न हो, परन्तु सब कुछ जानते-बूझते हुए भी आखें मूंदे रखना लूट की छूट ही कहा जायेगा। इन निजी संस्थाओं द्वारा की जा रही मनमानी, निरंकुशता की सीमा तक पहुंच चुकी है और अब तो इन्होंने विभागीय व अन्य सरकारी पदाधिकारियों को भी प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से प्रभावहीन बना कर उन्हें गांठना तक छोड़ दिया है। स्वैच्छिक शिक्षण संस्था अधिनियम का खुल्लम-खुल्ला उल्लंघन जिला स्तरीय शिक्षा अधिकारी से लेकर शिक्षा निदेशालय तक की जानकारी में किया जा रहा है। इस प्रकार शिक्षा की जनकल्याणकारी नीति एक मजाक बनकर रह गयी है।

शिक्षा के व्यापारीकरण को वर्तमान स्थिति तक पहुंचाने में सबसे बड़ा हाथ स्वयं समाज का रहा है। चूंकि, हम ऐसे देश के

नागरिक हैं जहां की अधिकांश जनसंख्या निरक्षर, अशिक्षित या अल्पशिक्षित है, इसलिए इन शिक्षा की दुकानों के प्रचार की चकाचौंध में जनता चौंधिया गई है और इनके पीछे आंख मूंद कर भाग रही है। इसी कमजोरी का भरपूर लाभ उठाते हुए ये संस्थाएं दिन दूनी, रात चौगुनी फलफूल रही हैं और समाज का शोषण कर रही हैं। शिक्षा के व्यापारीकरण का सार्थक विरोध न करना परोक्ष रूप में व्यापारीकरण को बढ़ावा देना ही है।

सरकारी स्कूलों में व्याप्त निष्क्रियता, शैक्षिक वातावरण का नितांत अभाव, उबाऊ शिक्षण-विधि और शिक्षकों की अपने कर्तव्यों के प्रति घोर उदासीनता ने शायद शिक्षा के व्यापार को सर्वाधिक बढ़ावा दिया है। आज सरकारी विद्यालयों की साख इतनी गिर चुकी है कि मेहनत, मजदूरी कर जीवन यापन करने वाले श्रमिक और किसान भी इन विद्यालयों में अपने बच्चों को प्रवेश दिलाने से कतराने लगे हैं। पर्याप्त वेतन पाने वाले अधिकांश सरकारी शिक्षक अकर्मण्य हो गए हैं। सेवा की सुरक्षा ने उन्हें लापरवाह बनाया है तो शिक्षक संघों ने उन्हें निरंकुश। रही सही कसर राजनैतिक संरक्षण पूरी कर देता है। शिक्षा-प्रशासन पंगु हो गया है, यथा-स्थितिवादी हो गया है। पहल या नवाचार नाममात्र को शेष नहीं है। शिक्षा प्रशासन में शैक्षिक नेतृत्व का अभाव है और उन पर शिक्षक संगठन हावी हैं। हर कदम पर राजनैतिक दखलंदाजी बढ़ी है। स्थानान्तरण तक मंत्री करने लगे हैं। यह विधायिका द्वारा कार्यपालिका के अधिकारों के हनन की पराकाष्ठा है। ऐसी स्थिति में शिक्षा प्रशासन का 'डिमोरलाइज्ड' होना स्वाभाविक है। इतर कार्यों में उलझे रहने से शिक्षा प्रशासकों को शैक्षिक परिवीक्षण, शैक्षिक अनुसंधान तथा शैक्षिक स्तरोन्नयन के लिए समय ही नहीं मिलता। धन के अभाव में सरकारी विद्यालयों को विपन्न बना दिया है और वे फटेहाल हैं। इनमें केवल पांच प्रतिशत विद्यालयों का ही कार्य संतोषप्रद है। जबकि इनमें से 20 प्रतिशत का कार्य औसत दर्जे का है तो शेष 75 प्रतिशत स्कूल सिर्फ कहने मात्र के लिए स्कूल हैं। वहां न तो ढंग के खेल के मैदान है, न प्रयोगशालाएँ, न पुस्तकालय व वाचनालय हैं और न अन्य आधारभूत सुविधाएं ही उपलब्ध हैं। इसके विपरीत आज अध्यापक वर्ग अपने कर्तव्यों के प्रति कितना सजग व सचेत है? यह तथ्य समाज व सरकार किसी से भी छुपा हुआ नहीं है। देश में लाखों ऐसी प्रारंभिक पाठशालाएँ हैं जिसमें एक अध्यापक भी रोज नहीं आता, वहीं बड़े-बड़े शहरों में ऐसे स्कूल भी हैं जो पूरी तरह वातानुकूलित हैं। इस प्रकार से निजी विद्यालयों की चमक-दमक जनता को आकर्षित करेगी ही।

हम शिक्षा को राज्य का ही नहीं वरन् समाज का विषय मानते हैं परन्तु चूंकि शिक्षा के समाजीकरण की दिशा में अभी तक

ठोस प्रयत्न प्रारम्भ नहीं हुए हैं, इसलिये पहले चरण में राजकीय शिक्षा में सुधार की आवश्यकता है तथा राजकीय शिक्षा की गुणवत्ता में ठोस सुधार लाने की कोशिशों को सर अंजाम दिया जाये, ताकि निजीकरण को बढ़ावा न मिले और खतरनाक किस्म की खुल रही शिक्षा की दुकानदारी को रोककर समाज के बँटवारे पर रोक लगाई जाये ।

स्वाधीनता के बाद आज भी देश व राज्यों की निर्वाचित सरकारें अपने को जनता के प्रति जवाबदेह घोषित करके जिन जनद्रोही नीतियों को लागू करती जा रही है उसमें शिक्षा जैसे विषय भी हैं । शिक्षा के नाम पर जो कुछ परोसा जा रहा है और जिस तरीके से परोसा जा रहा है उसका मूल्यांकन करने का वक्त आ गया है क्योंकि सरकार शिक्षा के सवाल पर वास्तव में ही गंभीर नहीं है। जनता से जनकल्याण के नाम पर भरपूर कर वसूली के बावजूद भी केन्द्र सरकार व राज्य सरकारें शिक्षा के नाम पर विदेशी सहायता एवं विश्व बैंक से प्राप्त ऋण पर आज भी आश्रित हैं।

आजादी के बाद के इन 50 वर्षों में शिक्षा के नाम पर जो तमाशा चल रहा है तथा जिस तमाशे को खूबसूरत शब्दों और भ्रामक आंकड़ों के सहारे प्रस्तुत किया जा रहा है, आखिर उसकी सच्चाई क्या है ? यह जानना आवश्यक है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शासक दलों के नेताओं ने देश के प्रत्येक वर्ग के लोगों के बीच शिक्षा को पहुंचा कर नवजागरण काल के चिन्तकों एवं आजादी के शहीदों के स्वप्न को साकार करने का वादा किया था किन्तु आज तक जन जन तक प्राथमिक शिक्षा को ले जाने की बात मात्र एक कागजी वादा बनी रही । जो काम दस साल में पूरा होना चाहिये था वह पचास साल बाद भी अधूरा है । निःशुल्क शिक्षा की कल्पना को प्रायः भुला ही दिया गया है तथा दलों के नेताओं द्वारा प्रत्येक 10 वर्ष बाद जिस तरह आरक्षण वाले प्रावधान को बढ़ा दिया जाता है उसी तरह शिक्षा वाले प्रावधान को भी बढ़ा दिया जाता है । हमारे शासक वर्ग द्वारा ऐसी पद्धति अपनायी जा रही है जिसका उद्देश्य शिक्षा को एक संवैधानिक और सामाजिक मिशन न बना कर उसको एक संपूर्ण उद्योग और व्यवसाय बना रखा

है । और जनता को शिक्षा की पहुंच से बाहर रखने की पद्धति के कारण आज भी 11 करोड़ 10 लाख बच्चे स्कूल जाने से वंचित हैं । ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा शिक्षा, कानून और राज्य तीनों का बखूबी से इस्तेमाल कर लार्ड मैकाले ने सन् 1855 में अंग्रेजी शिक्षा की घोषणा की जिसके कारण हमारा शासक वर्ग आज भी यथास्थितिवादी और अंग्रेजियत की गिरफ्त में है । अगर मैकाले की शिक्षा पद्धति का गहराई से चीड़-फाड़कर विश्लेषण किया जाए, तो कई ऐसे तथ्य निकले जिसे हम आज भी शैक्षणिक ढांचे में देख रहे हैं । हमने कभी यह जानने, स्वीकार करने की कोशिश नहीं की, कि पिछले 50 वर्षों से जो शिक्षा हमें परोसी जा रही है वह मैकाले की शिक्षा पद्धति से भिन्न कहां है ?

सबके लिए शिक्षा का नारा जोर शोर से बुलन्द किया जाता रहा है । यह कितना सफल हुआ इस बात को रेखांकित करता है। शिक्षा बचाओ आन्दोलन के विचारकों की रिपोर्ट सबके लिए शिक्षा जैसे बहुआयामी कार्यक्रमों को रेखांकित करते हुए शिक्षा के मोर्चों पर असफलताओं की कई परतें खोलती हैं। देशभर में ग्यारह करोड़ दस लाख बच्चे स्कूल नहीं जा पा रहे हैं और जो बच्चे स्कूल जा रहे हैं, उन बच्चों को स्कूल में न कॉपी-किताबें मिल पा रही हैं न पीने का पानी तथा न ही अन्य मूलभूत सुविधाएं। यह कैसी विडम्बना है कि एक

ओर राष्ट्रीय स्तर पर सबके लिए शिक्षा का नारा जोर शोर से बुलन्द किया जा रहा है तथा सत्ताधारी नेता दावा कर रहे हैं कि वे सामाजिक सेवाओं पर खर्च बढ़ने जा रहे हैं या बढ़ा रहे हैं । दूसरी ओर अंधकार की ओर बढ़ते बच्चों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है और हमारे देश में शिक्षा जैसे मूलभूत अधिकारों से बच्चे वंचित हो रहे हैं । क्योंकि हमारी शिक्षा नीति और श्रम नीति कमजोर पायों पर टिकी होने के कारण और भारत में सबसे बुनियादी समस्या गरीबी, भुखमरी के कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर आज तक बच्चों के भविष्य को कितना संवारा जा चुका है । यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है । नन्ही उम्र की अंगुलियों को स्लेट पकड़ने के बदले स्लेट बनाने के कारखाने में काम करना पड़ता है । स्कूल में पेटिंग सीखने के बदले उनकी नाजुक अंगुलियां बेहतर

आम तौर पर यह दुहाई दी जाती है कि ये निजी संस्थाएं बाजार की मांग और आपूर्ति के सिद्धांत पर चल रही है यदि यहां बेहतर शिक्षा न दी जाती तो अभिभावक अपने बच्चों को इन संस्थाओं में क्यों पढ़ाते ? परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि शिक्षा के प्रति सरकार की उदासीनता व दुलमुल नीति, सरकारी विद्यालयों की विपन्न स्थिति, दकियानूसी शिक्षक प्रशिक्षण, अमनोवैज्ञानिक व अरुचिकर पाठ्यक्रम तथा अकर्मण्य शिक्षाकर्मी, शिक्षा में राजनीति की दखलंदाजी, मूकदर्शी और किंकर्तव्यमूढ़ शिक्षा प्रशासन ने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों रूप से इन निजी विद्यालयों के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग प्रदान किया है ।

और बेशकीमती कालीन में रंग भरने को मजबूर हैं तथा अपने माता-पिता की गरीबी के कारण चूड़ी उद्योग, पत्थर तोड़ने का कार्य, ईट भट्टा कार्य, कृषि व्यवसाय आदि अनेक उद्योगों में बहुत सारे बच्चे बंधुआ मजदूरी में जकड़े हुए हैं।

बच्चों के लिए बनाई गई अंतहीन योजनाओं के बावजूद आज भी करोड़ों बच्चे शिक्षा के उजियारे से कोसों दूर शिक्षा के प्रसार के लिए स्लेट बनाते हैं। अशिक्षा के बीमार अंधेरे में पलते ये बच्चे हमारी प्राथमिक शिक्षा के तमाम दावों पर एक प्रश्न चिन्ह प्रतीत होते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर आज तक जहां एक ओर स्कूलों की संख्या बढ़ी है वहीं दूसरी ओर शिक्षा से वंचित बच्चों की संख्या काफी बढ़ी है।

अगर गहराई से विश्लेषण किया जाये तो 5 साल से 14 साल के बीच की उम्र के सभी कामगार बच्चों का लेखा-जोखा और विश्लेषण करें तो पायेंगे 11 करोड़ 10 लाख से भी ज्यादा बाल श्रमिक आज भी मजबूरन पारिवारिक गरीबी के कारण बंधुआ मजदूरी या बालश्रम करने में जुटे हुए हैं। अशिक्षा, बीमारी एवं गरीबी के कारण ये बच्चे बड़े होकर अपनी कम उत्पादकता, व्यवसाय और प्रशिक्षण की सुविधाओं के अभाव में अपने बच्चों को भी इन्हीं या ऐसे ही दूसरे धन्धों में झोंक देते हैं। आखिर ये बच्चे अपनी पढ़ाई बीच में क्यों छोड़ देते हैं? उसका मूल कारण हमारी लचर व्यवस्था है।

विवेकानन्द ने कहा था, हमारे देशवासियों को यदि सेवा की जरूरत है तो वह यह है कि उन्हें शिक्षित किया जाए ताकि वे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। उन्हें विचार मिले, उनकी सोच का विस्तार हो। उनकी आखें खुलें, वे देखें कि उनके चारों ओर क्या हो रहा है? सभी पढ़े-लिखे लोग व अनपढ़ लोगों का एक बड़ा प्रतिशत समूह यह बात समझता है कि पढ़े-लिखे होने से ही विकास के मार्ग खुलते हैं व जीवन-शैली में बदलाव संभव होता अधिकतर लोग शिक्षा से इसलिए वंचित नहीं रह जाते हैं कि शिक्षित होने का चुनाव उनके हाथ में नहीं है। साधनों व उचित अवसरों की कमी के कारण वे चाहते हुए भी पढ़ लिख नहीं पाते। ये निर्धनता, बढ़ती महंगाई, बेरोजगारी, रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करने के संघर्ष में उलझकर रह जाते हैं। वे साक्षरता व शिक्षा से इन सब समस्याओं के संबंध को भी नहीं देख पाते। बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा को अहम् माना जाता है। शिक्षा का भरपूर प्रचार-प्रसार करने के लिए देश भर में बड़े पैमाने पर कोशिश की जाती रही है।

इसके बावजूद शिक्षा पद्धति आज भी नीरस है। सीखने-सिखाने की आधुनिक प्रक्रिया दरारों में भी बड़ी नजर आती है। प्रायः सभी राज्य सरकारों ने बच्चों के स्कूल भेजने की उम्र 4 साल

रखी है लेकिन ऐसे स्कूलों की संख्या कम नहीं है जिनमें तीन साल के बच्चे पीठ पर भारी बस्ता लादे पढ़ने जाते दिखाई पड़ते हैं। उस पर स्कूल से लौटने के बाद ट्यूशन का अनचाहा बोझ। विषय इतने सारे हैं कि एक वयस्क का भी सिर चकरा जाए। फिर जबरदस्ती अंग्रेजी लादने की ऐसी होड़ कि बच्चे न तो राज्य भाषा जान पाते हैं और ना ही मातृ भाषा। पचास वर्षों से हम स्वतंत्रता जश्न मनाते आ रहे हैं लेकिन स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि जब-जब हम अपनी आजादी के संकल्प को पूरा नहीं कर पाते तब तब एक नया नारा उछाल दिया जाता है। सन् 2000 तक सबके लिए भी शिक्षा का नारा उछाला गया और जब यह महसूस होने लगा कि यह नारा भी पूरा नहीं किया जा सकता तो सन् 2005 तक साक्षरता का नारा लगा दिया गया। कभी-कभी बीच में शिक्षा नीति के नाम पर समिति या आयोग का गठन कर दिया जाता है और बाद में उसकी रपटों को सिर्फ सेमीनार और संगोष्ठियों के लिए जारी कर दिया जाता है। सच मानिये सरकार शिक्षा के सवाल पर वास्तव में गंभीर है, यह तथ्य आजादी के बाद कभी दिखलाई नहीं दिया। सरकार के ही आंकड़ों से सरकार की गंभीरता को जांचने के लिए कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं -

सन् 1950-51 भारत में 5 वर्ष से अधिक आयु के मात्र 18.33% व्यक्ति ही साक्षर थे, यानि देश की आबादी का 81.67% हिस्सा निरक्षर था। सन् 1961 में देश में 26 करोड़ 73 लाख लोग निरक्षर थे। सन् 1971 में 30 करोड़ 71 लाख लोग निरक्षर थे। सन 1991 में सरकार ने 5 वर्ष की जगह 7 वर्ष के ऊपर के लोगों में करीब 32 करोड़ 90 लाख निरक्षर थे यदि 1991 में भी 5 वर्ष के लोगों की गणना की जाती तो यह आंकड़ा भी 34 से 35 करोड़ तक का बैठता है।

सन् 1991 की जनगणना के अनुसार देश में अशिक्षा की दर 60.7% है, इनमें महिलाओं में साक्षरता कुल 30-29% ही है यानि प्रति सौ महिलाओं में कुल 40 महिलाएं ही साक्षर हैं, शेष 60 महिलाएं एक भी अक्षर समझने से मोहताज हैं। शहरी क्षेत्रों में बालिकाओं को विद्यालय तक जाने का मौका मिल जाता है किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में बालिकाओं को शिक्षा के अवसर नाम मात्र को भी उपलब्ध नहीं हो पाते। दलित वर्ग की महिलाओं में साक्षरता दर और अधिक शोचनीय है। मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में अल्प विकसित सुविधाओं के कारण अनुसूचित जाति की स्त्रियों में यह दर कुल 23.76% है जबकि अनुसूचित जनजाति की औरतों में केवल 18.91% है।

ऐसी सूरत में महिला निरक्षरता का सफाया करने के लिए शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में अधिक से अधिक बालिका

विद्यालय और महाविद्यालय खोल कर तथा देश में स्थापित 53 श्रमिक विद्यापीठों का दायरा बढ़ाकर इन्हें असमानता के दलदल से उबारा जा सकता है। और उन्हें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, और सांस्कृतिक मंचों पर न्यायोचित भागीदारी का दावेदार बनाया जा सकता है।

निरक्षरता के सवाल पर मानव संसाधन विकास राज्य मंत्री मुहीराम सैकिया ने एक रिपोर्ट में बताया कि 1991 की जनगणना के अनुसार 7 वर्ष और अधिक आयु वर्ग में 32 करोड़ 89 लाख लोग निरक्षर हैं। छात्राओं के सवाल पर उन्होंने कहा कि गत तीन वर्षों के बीच में ही स्कूल छोड़ने वाली लड़कियों की संख्या में लगातार गिरावट आई है। वर्ष 1994-95 में 1 से 5 कक्षा तक 37.79% व 1 से 8 कक्षा तक 56.53% लड़कियों ने बीच में ही पढ़ाई छोड़ दी। शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए जुलाई, 97 में केन्द्रीय सरकार ने संविधान में संशोधन संबंधी प्रस्ताव को मंजूरी दे दी थी। संविधान का 83 वां संशोधन संबंधी विधेयक संसद में पेश भी हुआ और उसे मानव संसाधन विकास मंत्रालय की स्थाई समिति को भेज दिया। किसी भी देश को शिक्षा को कारगर बनाने की अहम भूमिका निभानी होती है और राज्य का यह दायित्व है कि प्रत्येक बच्चे को प्रत्येक स्कूल में उनके मनपसन्द वातावरण में सीखने व शिक्षा

पाने का अवसर मिले। किंतु इसे मूर्त रूप देने की दिशा की ओर किसी प्रकार की पहल ही नहीं की गई है। इस दिशा में नहीं के बराबर कार्य हुआ है और ग्राम शिक्षा आन्दोलन के अन्तर्गत साक्षरता कार्यक्रम भी प्रयत्नों के अभाव में निरर्थक साबित हुए हैं।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि अनेकों प्रयासों के बाद भी हम निरक्षरता की संख्या कम नहीं कर पाये। क्योंकि हमने निरक्षरता के विरुद्ध तो कार्य योजना बनाई परन्तु कभी भी निरक्षरता बनाये रखने के कारणों को मिटाने का प्रयास नहीं किया। जब तक निरक्षरता बनाये रखने के कारण मौजूद हैं, तब तक निरक्षरता कैसे समाप्त होगी, यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित है।

इसी तरह भारत सरकार की प्राथमिकताओं पर यदि दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि शिक्षा के सवाल को सरकार कितनी प्राथमिकता देती है। सन् 1950-51 में शिक्षा के काम पर कुल

बजट का 1.2% खर्च किया गया। 1960-61 में यह खर्च बढ़कर 2.5% हो गया, अगले 20 वर्षों में अर्थात् 1980-81 में यह बढ़कर 3.1% हो गया। 1990 में यह बढ़कर 3.9% हो गया। परन्तु 1994-95 के दौरान यह घटकर 2% रह गया।

यूनेस्को के आंकड़े पर यदि दृष्टि डालें तो आज भी स्कूल जाने वाली उम्र के 20% बच्चे स्कूलों से वंचित हैं और यदि राज्य सरकार के आंकड़ों पर दृष्टि डालें तो आज भी पहली कक्षा में दाखिल 100 बच्चों में से कुल 30 बच्चे ही 5 वीं पास कर पाते हैं। सच्ची बात तो यह है कि देश के लगभग 70% से अधिक आबादी अर्द्धसाक्षर है। इतनी बड़ी आबादी के अर्द्धसाक्षर रहने के कारणों पर गंभीरता से क्यों नहीं सोचा गया? यदि सरकार के पास इस प्रश्न का जवाब है तो फिर इस दिशा में परिवर्तन क्यों नहीं किये गये?

बच्चों के भविष्य को संरक्षित रखने के लिए उनकी शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। अन्यथा उन्हें प्रौढ़ावस्था में साक्षर करने के लिए हमें लड़ाई जारी रखनी होगी। बच्चों की शिक्षा की कुव्यवस्था का ही परिणाम था कि हमें 1978 में राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम की स्थापना करनी पड़ी। लेकिन यह कार्यक्रम भी क्लृप्त की गति से ही चल पाया। आरंभिक दस वर्ष में 10 करोड़

लोगों को साक्षर बनाने के लक्ष्य का मात्र 20% ही पूरा किया जा सका। स्वतंत्रता प्राप्ति के 50 वर्षों में लगभग 2600 करोड़ रुपये प्रौढ़ शिक्षा तथा 94 सौ करोड़ रुपये प्राथमिक शिक्षा पर खर्च किए जा चुके हैं। अगर सरकारी आंकड़ों को स्वीकार भी कर लें कि लगभग तीन करोड़ लोगों को साक्षर बनाया जा चुका है तो भी खर्च न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि 1995 में केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के तत्वाधान में प्रो. अरुण घोष की अध्यक्षता में बनी जांच समिति की रपट ने सरकारी आंकड़ों पर गंभीर प्रश्न चिन्ह उठाये हैं और उन्हें फर्जी बताया है। ऐसी स्थिति ही क्यों उत्पन्न होती है कि हमें प्रौढ़ शिक्षा जैसे कार्यक्रम चलाने के लिए विवश होना पड़ता है।

अगर आवश्यक संसाधन जुटाकर बच्चों की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया जाए तो भी शिक्षा से वंचित बच्चे न सिर्फ अपना

हम शिक्षा को राज्य का ही नहीं वरन् समाज का विषय मानते हैं परन्तु चूंकि शिक्षा के समाजीकरण की दिशा में अभी तक ठोस प्रयत्न प्रारम्भ नहीं हुए हैं, इसलिये पहले चरण में राजकीय शिक्षा में सुधार की आवश्यकता है तथा राजकीय शिक्षा की गुणवत्ता में ठोस सुधार लाने की कोशिशों को सर अंजाम दिया जाये, ताकि निजीकरण को बढ़ावा न मिले और खतरनाक किस्म की खुल रही शिक्षा की दुकानदारी को रोककर समाज के बँटवारे पर रोक लगाई जाये।

भविष्य संवार सकेंगे । आज यदि भारत में 11 करोड़ 10 लाख बच्चे शिक्षा से वंचित है तो 21 वीं सदी में प्रवेश करते-करते इनकी संख्या में लगभग 4 करोड़ की बढ़ोतरी और हो जायेगी ।

उपरोक्त आंकड़े इस बात का प्रमाण हैं कि सरकार शिक्षा के सवाल पर भारी असफलता की शिकार है और अपनी असफलताओं के कारणों को खोजने की बजाय शिक्षा के निजीकरण के रास्ते लगातार खोल रही है । ठीक उसी तर्ज पर जिस तरह स्वास्थ्य, परिवहन, बीमा, बैंक आदि के मसले पर निजीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है । इसलिए अब यह जानना आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण अन्य क्षेत्रों के निजीकरण से किस हद तक अनुचित है ?

इस तथ्य से सभी वाकिफ हैं कि शिक्षा के माध्यम से न सिर्फ ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में वृद्धि होती है, बल्कि सही मायने में शिक्षा के द्वारा नजरिया व सरोकार भी पैदा किया जाता है । यदि शिक्षा ऐसी है, जिससे सामाजिक सरोकारों में व्यापकता आती है तो शिक्षार्थी का नजरिया भी उतना ही व्यापक होगा । किसी सार्वजनिक व सामान्य विद्यालय में पढ़ा शिक्षार्थी दून या उसी तरह की पृष्ठभूमि के विद्यालय में पढ़े शिक्षार्थी की तुलना में गरीब व सामान्य समाज के साथ ज्यादा संवेदनशीलता से जुड़ा होता है । परन्तु दून या ऐसे विद्यालय में पढ़े शिक्षार्थी की तुलना में उसमें जो हीनता का भाव पैदा होता है, वह समाज में पनपते उन मूल्यों के कारण है जहां पद, पैसा और प्रतिष्ठा को प्रधानता मिली है ।

शिक्षा के निजीकरण का सर्वाधिक प्रभाव शिक्षार्थी और समाज के नजरिये पर पड़ता है । शिक्षार्थी में अपनी श्रेष्ठता और विशिष्टता का अहसास बनता चला जाता है जो उसे सामान्य और गरीब समाज से अलग कर देता है । फलतः वह इस सामान्य व गरीब समाज के सवाल को एक अलग दृष्टि से देखता है । उसे उनमें गरीबी, अंधविश्वास, रुढ़िवादिता, बीमारी और कमजोरी नजर आती है । वह सामान्य व गरीब समाज में मौजूद सादगी, सहयोग व सहिष्णुता का देखने वाली नजर खो देता है । इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अपने पद व गरिमा और प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए अपने इर्द गिर्द ऐसा माहौल बना देता है, जिसमें सामान्य समाज का व्यक्ति भी इन लोगों के रहन सहन, पहनावे, खान-पान से प्रभावित होने लगता है । वह इस सभ्रांत समाज की नकल करना शुरू कर देता है और खुद ही के प्रति और खुद के समाज के प्रति उसके मन में घृणा व हीनता बनने लगती है । यहीं से समाज का कठोरतम बिखराव होने लगता है और फिर कोई सभ्यता, कोई जीवन शैली इस प्रकार के समाज पर जाने-अनजाने शासन करने लगती है ।

चूंकि सरकार शिक्षा की मांग को पूरा नहीं कर रही है, इसलिए वह शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण को बढ़ावा दे रही है । अपनी जवाबदेही से बचने के लिए सरकार इस निजीकरण के तार्किक व आवश्यक होने का प्रमाण पत्र भी जारी कर रही है । यही नहीं केन्द्र सरकार व राज्य सरकार शिक्षा के नाम पर विश्व बैंक, विदेशी सहायता व ऋण पर आश्रित होती जा रही है । सरकार से जुड़े नेता अफसर, शिक्षा, व्यापारी, माफिया, गिरोह से जुड़े रहते हैं और अवैध रूप से खोले गये विद्यालय को भी नियमित कराने में इनका पूर्ण सहयोग होता है । जैसे आजकल आयकर चोरी करने वालों को एकबारगी घोषणा करने की छूट या अवैध रूप से बनाई गई बस्तियों को जन दबाव (वोट बैंक का दवाब) के कारण नियमित कर देना ।

लेकिन निजीकरण की यह अवधारणा किस हद तक देश के संबंधी के लिए विघटनकारी बना सकती है, जब इस निजीकरण का सहारा लेकर -

- कोई भी विघटनकारी समूह अपना विद्यालय खोल ले ।
- कोई भी विदेशी कम्पनी अपने विद्यालय खुद खोलने ओर चलाने का फैसला कर ले ।
- कोई भी निजी स्कूल अपने विद्यालय में ऐसी गतिविधियों का संचालन करना शुरू कर दे जो लोकतांत्रिक मूल्यों के खिलाफ हो, जैसे युद्ध कला, दूसरे धर्मों के प्रति नफरत आदि ।
- कोई भी पूंजीपति या उसका समूह एक साथ, सैकड़ों, स्थानों पर स्कूल खोलकर अपने स्वार्थों की पूर्ति का उसे केन्द्र बना ले ।

उपरोक्त प्रश्न सिर्फ ख्याली पुलाव नहीं है बल्कि सरकार की अनेकों रपटों में इस प्रकार के तथ्य उभरते हैं, जिससे ऊपर लिखे सवाल पैदा होते हैं ।

दोहरे चरित्र एवं अमीरों की समर्थक सरकार ने सन् 1998 के राष्ट्रीय बजट में शिक्षा व शिक्षा संबंधी योजनाओं के लिए आवंटित अत्याल्प राशि में अत्यन्त कटौती की । इस बजट को अगर स्वदेशी कहा जाये तो यह तय करना बहुत मुश्किल काम है कि बजट में, उन्होंने भाषा कि किस शक्ति का प्रयोग किया है ? यथा-अभिधा, व्यंजना अथवा लक्षणा क्योंकि बजट के शब्दों में “क्षण भंगुरता” में शासक तू शोषित, जैसी बातों के अलावा, जिस चीज की गंध आ रही है वह है अंग्रेजी दीक्षितों का प्रभुत्व, जो यह मानकर चल रहे हैं कि भारत में हमेशा दो वर्ग रहेंगे । एक वह जो अंग्रेजी बोलेगा और दूसरा वह जो अंग्रेजी नहीं बोलेगा । इसमें पहले वर्ग के पास ज्ञान हासिल करने की तमाम सुविधा रहेंगी और वह हमेशा ही निर्देशक की भूमिका निभायेगा । दूसरा वर्ग

उसके निर्देशनों के मुताबिक काम करता रहेगा। वरना क्या कारण है कि विश्व के सर्वाधिक निरक्षरों वाले इस देश के वित्त मंत्री ने अपने बजट भाषण के सातवें बिन्दु में जिन मुख्य उद्देश्यों की घोषणा की उन लक्ष्यों को भी पाने में शिक्षा की भूमिका को पूरी तरह नजर-अंदाज किया गया है।

अब शासक वर्ग से ज्यादा उम्मीद करना नादानी होगी। स्वदेशी का डंका बजाने वाले देश के दर्शन की एक मामूली बात समझने में चूक रहे हैं और यह कोई उपलब्धि नहीं।

देश की योजना बनाते समय जब शिक्षा संबंधी बातों को हमारे नीति निर्धारकों द्वारा हाशिये पर ढकेल दिया जाये तो इस बात की भी खोजबीन की जानी चाहिए कि इसमें ईमानदारी और चेतना में से किसका अभाव है। सरकार को इस बात पर भी अवश्य ध्यान देना चाहिए कि इस समय गांव के लिए नए पाठ्यक्रम का निर्माण, नये स्कूल, महाविद्यालय, कन्या महाविद्यालय, कृषि महाविद्यालय सहित अन्य तकनीकी संस्थाओं की बहुत जरूरत है। इन सबके बगैर शहरों की ओर हो रहे पलायन को रोकना असंभव है।

उधर आधारभूत-संरचना का जिंक्र करते समय सरकार यह भी जिंक्र करती रहती है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण साधन है किन्तु अन्य बातों की तरह यह बात सिर्फ कही जाती है, पर कहीं दिखती नहीं। सरकार ने अपना यह दृष्टिकोण भी स्पष्ट नहीं किया कि शिक्षा का इस्तेमाल आधारभूत संरचना के विकास में किस प्रकार किया जायेगा? क्योंकि पिछले शिक्षा के बजट के लिए आवंटित पचास फीसदी राशि का अधिकतर हिस्सा तो शिक्षकों के बढ़े हुए वेतनों में ही चला गया इसलिए इस क्षेत्र में कोई नई शुरूआत सरकार की तरफ से होगी ऐसा नहीं सोचा जा सकता।

शिक्षा साध्य है या साधन, इस तथ्य पर गहन चिन्तन करने का समय, अब ना सरकार के पास है और न बड़े बड़े शिक्षा-शास्त्रियों के पास है। परन्तु भारतीय दर्शन का हवाला देकर यह बात बड़े जोर से कही जाती रही है कि शिक्षा अपने आप में एक साध्य है। इसके अनुसार व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य सर्वोच्च ज्ञान को पाना है। वहीं दूसरी ओर प्रयोजनवादियों की एक पूरी विचारधारा यह मानती है कि शिक्षा अन्य लक्ष्यों को पाने का एक बेहतरीन साधन है। लेकिन हम सब देख चुके हैं कि सरकार का इरादा शिक्षा के द्वारा किसी लक्ष्य को साधने का नहीं है। इससे यह भी आभास नहीं होता कि वह समाज को सर्वोच्च ज्ञान तक पहुंचाने में किसी भी प्रकार की मदद करेगा। यूं भी शिक्षा से जो जागरूकता फैलेगी उससे शासक वर्ग भयभीत है और उसका खतरा कोई भी राजनैतिक दल मोल नहीं लेना चाहता। समाज पहले बदलेगा या

शिक्षा-व्यवस्था, यह कुछ वैसा ही मामला है कि अंडा पहले होगा या मुर्गी?

शासक और शोषक वर्ग द्वारा मानवीय मूल्यविहीन एवं दोमुंही शिक्षा के कारण देश के कौने-कौने से अजीबो-गरीब व अंधविश्वासी कृत्य होते हैं। जिन्हें होते देखकर शैतान भी शर्मिन्दा हो जाता है। देश में फैले घटाटोप अशिक्षा के वातावरण के कारण अन्धविश्वासों के कुछ उदाहरण हमारे देश में देखने को आये दिन मिलते हैं। जैसे कि, देश भर में गणेश जी की मूर्ति के एक समय पर दूध पीने पर यकीन, संनशतानोत्पत्ति हेतु नर बलि एवं काली को प्रसन्न करने के लिए बच्चों को सिर का चढ़ावा तथा धन पाने के लालच में अपने बेटे की बलि, तो कहीं चांदनी रात में नाग-नागिन का मनुष्य का रूप धारण कर नाच, कभी महुंआ पेड (महुआ बाबा) की पूजा से रोगों की मुक्ति तथा मनोकामना की पूर्ति इत्यादि अन्धविश्वासों के साथ हम विश्व के दूसरे देशों के साथ कैसे बराबरी कर सकेंगे?

आज आवश्यकता है कि ऐसी ठोस एवं सामूहिक पहल जनता की तरफ से भी हो जो शिक्षा के सवाल पर सर्वाधिक प्रताडित है और जिसे शिक्षा के सवाल पर अब मुखर होकर बोलना चाहिए। शासन और शोषक वर्गों द्वारा शिक्षा में बनाई गई ऐसी व्यवस्था जो वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की सभी बीमारियों को दूर करने का झूठा दम्भ भरती है। किन्तु निचोड़ रूप में यह शिक्षा नीति अत्यधिक भ्रामक और खतरनाक ढंग से शिक्षा के उद्देश्यों के ऊपर कटाक्ष पूर्ण आघात कर रही है। ठीक उसी तरह जैसे चुनाव में खड़े भ्रष्ट उम्मीदवारों में से कम भ्रष्ट को चुनना मतदाता की बेबसी होती है।

और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण तो यह है कि आज हर नेता, हर राजनैतिक दल, हर सरकार और हर बड़ा आदमी शिक्षा के सवाल पर जरूर बोलता है किन्तु क्या कभी व्यापारीकरण के विरुद्ध ये तमाम लोग एक बार भी निर्णायक हस्तक्षेप करने में हिम्मत जुटा पाए हैं? और हमारे चुने हुए प्रतिनिधि भी कभी किसी मंच से वर्तमान शिक्षानीति के इस मुद्दे को उठाने की तोहमत नहीं उठाते अन्यथा आजादी के 50 वर्ष बाद भी 1,83, 209 गांवों में प्राथमिक स्तर की शिक्षा का अभाव नहीं रहता और न ही साक्षरता का ग्राफ 50 प्रतिशत के आसपास ही टिका रहता। परिणामतः देश के अन्य राज्यों को तो छोड़िये अकेले राजस्थान प्रान्त में आज भी लगभग 6200 गांवों तथा 20000 छोटी बस्तियों में कोई प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध नहीं है। आखिर ऐसी क्या विवशता है, जो लगातार विरोध के बावजूद भी शिक्षा का ढर्रा “सब कुछ ठीक-ठाक है” की तर्ज पर चल रहा है। ♦